Received 29/03/96

आ. श्री कैलाससागर सूरि ज्ञानमंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा
कि. गांधीनगर, पिन-382009

6/1/5

तित्थयर

सत्रहवाँ वर्ष । फरवरी १९९४ । दशम् अंक

25 20

जैन भवन

तित्थयर

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १७ : अंक १०

फरवरी १९९४

□

संपादन

राजकुमारी बेगानी

लता बोथरा

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५, कलाकार स्ट्रीट,

कलकत्ता-७०००७

□

मुद्रक

अनुप्रिया प्रिन्टर्स

६ ए, बड़ौदा ठाकुर लेन

कलकत्ता-७

सूची

दो शब्द स्मृति में	२९०
ऋषभ देव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ	२९१
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र	३१५
जैन पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या	३२०

दो शब्द.....

स्वर्गीय गणेश ललवानी जी आज हमारे बीच नहीं हैं। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मुझे कभी उनके प्रत्यक्ष दर्शन का मौका नहीं मिला। लेकिन अपनी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यिक रचनाओं और अनुपम कृतियों द्वारा वो हमेशा हमारा मार्गदर्शन करते रहेंगे। हम उनके द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों को निरन्तर आगे बढ़ाने की दिशा में अग्रसर रहें, यही सही अर्थों में हमारी उनके प्रति श्रद्धांजलि होगी।

आप सबके सहयोग की आकांक्षी,—

लता बोथरा

ऋषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ

लेखक—श्री राजकुमार जैन
(एम० ए० पी० एच० डी०)

ऋषभदेव तथा शिव दोनों ही अति प्राचीनकाल से भारत के महान आराध्य देव हैं, वैदिक काल से लेकर मध्ययुग तक प्राच्य वांङ्मय में दोनों का देव देवताओं के विविध रूपों में अंकन हुआ है, वह अध्ययन का बड़ा मनोरंजक विषय है। प्रस्तुत लेख में उन्हीं मान्यताओं की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा रही है।

उपलब्ध भारतीय प्राच्य साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव की जो मान्यता एवं पूज्यता जैन परम्परा में है, हिन्दू परम्परा में भी वह उसी कोटि की है। जिस प्रकार जैन परम्परा में उन्हें मान्य एवं संस्तुत किया गया है, हिन्दू शास्त्र एवं पुराण भी उन्हें भगवान् के अवतार के रूप में मान्य करते हैं।

श्रीमद्भागवत[१] में भगवान् वृषभदेव का बड़ा ही सुन्दर चरित अंकित किया गया है। इसमें भगवान् की स्वयंभू मनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र नाभि तथा वृषभ—इन पांचों पीढ़ियों की वंशपरम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आग्नीध्र के पुत्र नाभिराजा के कोई पुत्र नहीं था। अतः उन्होंने पुत्र की भावना से मरुदेवी के साथ यज्ञ किया। भगवान् ने दर्शन दिये। ऋत्विजों ने उनका संस्तवन किया और निवेदन किया कि राजर्षि नाभि का यह यज्ञ भगवान् के समान पुत्रलाभ की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है। भगवान् ने उत्तर दिया—मेरे समान तो मैं ही हूं, अन्य कोई नहीं। तथापि ब्रह्मवाक्य मिथ्या नहीं होना चाहिए। अतः मैं स्वयं ही अपनी अंशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूँगा।' इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान् ने ऋषभ के रूप में जन्म लिया।

इसी पुराण में आगे लिखा है—यज्ञ में ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत्त परीक्षित स्वयं श्री भगवान् 'विष्णु' महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये अन्तःपुर की महारानी मरूदेवी के गर्भ में आये। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।'[२]

---

१. श्रीमद्भागवत ५, २-६।

२. 'बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः 'प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानां ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुदावततारः।'—श्रीमद्भागवत पञ्चम स्कन्ध।

भगवान् ऋषभदेव के ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल में इतनी बद्धमूल हुई कि शिव महापुराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में गिनाया गया[१] प्राचीनता की दृष्टि से भी यह अवतार रामकृष्ण के अवतारों से भी पूर्ववर्ती मान्य किया गया है। इस अवतार का जो हेतु श्रीमद्भागवत में दिखलाया गया है वह श्रमण धर्म की परम्परा को असंदिग्ध रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से संयुक्त करा देता है। ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मो को प्रकट करना बतलाया है। श्रीमद्भागवत में ऋषभावतार का एक अन्य उद्देश्य भी इस प्रकार बतलाया गया है :—

'अयमवतारो राजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थम्।'

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुणी जन को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ था। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सम्भव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण 'मल धारण करना' वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिए हुआ था। जैन साधुओं के आचार में अस्नान अदन्तधावन तथा मलपरीषह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को संयम का एक आवश्यक अंग माना गया है। बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे। तथागत ने श्रमणों की आचारप्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था[२] —

नाहं भिक्खवे संघाटिकस्स संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकमत्तेन जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामंञं वदामि।'

अर्थात्—हे भिक्षुओं, मैं संघाटिक के संघाटी धारण मात्र से यामण्य नहीं कहता, अचेलक के अचेलकत्व मात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिक मात्र से और जटिलक के जटा धारणमात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता।

भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि उक्त वातरशना तथा रजोजल्लिक साधुओं की परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है। ऋग्वेद में उल्लेख है[३] :—

'मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला,
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविसत।
उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्,
शरीरे दस्माकं सू यं मर्तासो अभिश्यथ।'

---

१. शिवपुराण, ७, २, ९।
२. मज्झिमनिकाय, ४०।
३. ऋग्वेद, १०,१३६, १।

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनिमल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं, जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।

वातरशना मुनि प्रकट करते हैं—समस्त लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् 'परमानन्दसम्पन्न' वायु भाव 'अशरीरी ध्यानवृत्ति' को प्राप्त होते हैं। तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे अभ्यन्तर स्वरूप को नहीं।

वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रारम्भ में ऋग्वेद में ही 'केशी' की निम्नांकित स्तुति की गई है, जो इस तथ्य की अभिव्यंजिका है कि 'केशी' वातरसना मुनियों के प्रधान थे। केशी की वह स्तुति निम्न प्रकार है :१

'केश्यग्नि केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी,
केशी विश्वं स्वर्दशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।'

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' ज्योति कहलाता है, अर्थात् केवल ज्ञानी कहलाता है।

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियों की साधनाओं को श्रीमद्भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमणऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओं को पारस्परिक तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्तक के निगूढ प्राक् ऐतिहासिक अध्याय को बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकाश में लाती है।

ऊपर के उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और श्रीमद्-भागवत के "वातरशना श्रमण-ऋषि" एक ही परम्परा अथवा सम्प्रदाय के वाचक हैं। सामान्यतः केशी का अर्थ केशधारी होता है, परन्तु सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियों को धारण करने वाला' किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त में जिन वातरशना साधुओं की साधनाओं का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ को कोई संगति नहीं बैठती। केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं, जिनकी साधना से मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही :

"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः"

देवदेवों के मुनि को उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है। वातरशना शब्द में और मलरूपी वसन धारण करने में उनकी नाग्नय वृत्ति का भी संकेत है।

श्रीमद्भागवत् में ऋषभ का वर्णन करते हुए लिखा है :

---

१. ऋग्वेद, १० १३६, १।

"उर्वरित शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेशः आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज जड़ान्ध-मूक-वधिर-पिशाचोन्मादकवत् अवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौन-व्रतः तुष्णीं बभूव ···· परागवलम्बमान कुटिल-जटिल-कपिश केशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत।"

अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीर मात्र का परिग्रह शेष रह गया था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशोंसहित आहवनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश में प्रव्रजित हुए। वे जड़, मूक, अन्ध, वधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष में लोगों के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए शान्त रहते थे,···· सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भारसहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखाई देते थे, जैसे उन्हें कोई भूत लगा हो।

ऋग्वेद के तथोक्त, केशीसूक्त तथा श्रीमद्भागवत में वर्णित श्री ऋषभदेव के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक केशी सूक्त को ही श्रीमद्भागवत में पल्लवित भाष्यरूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। दोनों में ही वातरशना अथवा गगन-परिधानवृत्ति, केश-धारण, कपिशवर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से वर्णित है।

भगवान् ऋषभदेव के कुटिल केशों का अंकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक बराबर अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। यथार्थतः समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियों के शिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। ऋषभनाथ के केसरियानाथ नामान्तर में भी यही रहस्य निहित मालूम देता है।[१] केसर, केश और जटा-तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। जिस प्रकार सिंह अपने केशों केकारण केसरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं। केसरियानाथ पर जो केशर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एवं श्रीमद्भागवत के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण-ऋषि एवं केसरियानाथ और ऋषभ तीर्थंकर तथा उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

---

१. राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ 'केशरिया तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं वैष्णव आदि सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य एवं पूजनीय है तथा जिसमें भ० ऋषभदेव की एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय मूर्ति प्रतिष्ठित है।

ऋग्वेद की निम्नांकित ऋचा से केशी और वृषभ अथवा ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है :१

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतःसहानस, ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है, उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य दृप्ता गावः' आदि श्लोक उद्धृत किये गये हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गायों को चोर ले गये थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया जिसके वचनमात्र से वे गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ी।

प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ तथा केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है, किन्तु फिर उन्होंने प्रकारान्तर से कहा है :—

"अथवा अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टकेशो वृषभोऽवावचीत् भ्रशमशब्दयत्" इत्यादि।

सायण के इस अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथाप्रसंग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का निम्न अर्थ प्रतीत होता है।२

"मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ, जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मोद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।"

तात्पर्य यह कि ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई।

ऋषभदेव और वैदिक अग्निदेव

अग्निदेव की स्तुति में वैदिक सूत्रों में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति वृषभदेव ही हैं—जातवेदस् (जन्मतः ज्ञान-सम्पन्न), रत्नधरक्त (दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप रत्नों को धारण करने वाला) विश्ववेदस् (विश्वतत्त्वों का ज्ञाता)

---

१. ऋग्वेद, १०, १०२, ६।

२. देखो डा० हीरालाल जैन का "आदि तीर्थंकर की प्राचीनता तथा उनके धर्म की विशेषता" शीर्षक लेख (अहिंसावाणी। वर्ष ७, अंक १-२, १९५७)।

मोक्ष नेता, ऋत्विज् (धर्मस्थापक), होता, हय, यज्ञ, सत्य यशवल इत्यादि[१] † वैदिक व्याख्याकारों ने भी लौकिक भ्रान्तियों का निग्रह करने के लिए स्थल-स्थल पर इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि अग्निदेव वही है जिसकी उपासना मरुद्गण रुद्र संज्ञा से करते हैं।‡ रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार-रुद्र, के ये नौ नाम अग्निदेव के ही विशेषण हैं।[२] अग्निदेव ही सूर्य है।[३] परमविष्णु ही देवों (आर्यगण) की अग्नि है।[४] इस मत की सर्वाधिक पुष्टि अथर्व वेद के ऋषभसूक्त से होती है, जिसमें ऋषभ भगवान् की अनेक विशेषणों द्वारा स्तुति करते हुए उन्हें जातवेदस् (अग्नि) विशेषण से भी विशिष्ट किया गया है।[५]

उपर्युक्त विशेषणों तथा समस्त प्राचीन श्रुतियों के आधार पर स्तुत्य अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ऋषियों ने यह व्यक्त किया है कि उपास्य देवों के अग्र में उत्पन्न होने के कारण वह अग्नि अथवा अग्नि संज्ञा से प्रसिद्ध हुए।[६] इन लेखों के प्रकाश में केवल यह तथ्य ही स्पष्ट नहीं होता कि ऋषभदेव का ही अपर नाम अग्निदेव रहा, अपितु यह भी सिद्ध है उपास्यदेव के अर्थ में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द संस्कृत का न होकर अग्र का लोकव्यवहृत प्राकृत अथवा अपभ्रंश रूप है जो आर्यगण के भारत-आगमन से पूर्व ही आदिब्रह्मा वृषभ के लिए प्रयुक्त होता आ रहा था। यही कारण है कि ब्राह्मण-ऋषियों को वृषभ की अग्नि संज्ञा 'अग्र' अर्थ-मूलक करने के लिये तत्सम्बन्धी श्रुतियों को आधार जानकर उसकी व्युत्पत्ति 'अग्र'

---

†१. ऋग्वेद, ११, ११२, अथर्व० ९, ४, ३ ऋग्वेद, १, १८९, १।

‡ 'यो वै रुद्रःमोऽशिनः'—शतपथब्राह्मण ५,२,४,१३।

२. (अ) 'तान्त्येताः···यष्टौ रुद्रः शर्व पशुपोतः उग्रः अशनिः भवः महादेवः ईषानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम्' वही ६, १, ३, १८।

(आ) 'एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद्भूवपतिः भुवनपतिर्भूतानां पतिः' वही, १, ३, ३, १९।

३. अग्निवार्थः। वही, २, ५, १, ४।

४. 'अग्निर्वे देवानाम् भवोको विष्णुपुरम्' कौतूस्य ब्राह्मणः, ७, १।

५. अथर्व, ९, ४, ३।

६. (अ) सयदस्य सर्वस्याग्रमस्सज्यत तस्माद्ग्रिरग्रिहं वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षय—शतपथ ब्राह्मण, ६, १, १, ११।

(आ) 'यद्वा एनमेतदग्रे देवानां अजनयत् तस्मादग्निराग्रर्तवै नामैतदग्यदगिरिति। वही २, २, ४, २

शब्द से करनी पड़ी। अन्यथा संस्कृत भाषा की दृष्टि से अग्रि एवं अग्नि शब्द में अत्यन्त पार्थक्य है।

आर्यजन के अग्निदेव और वृषभदेव की एकता

वैदिक अनुश्रुतियों से सिद्ध होता है कि अग्नि संज्ञा से वृषभ की उपासना करने वाले अधिकांश वे क्षत्रियजन थे, जो पञ्चजन के नाम से प्रसिद्ध थे।[१] इनमें यदु, तुर्वसा, पुरु, द्रुह्य, अनु नाम की क्षत्रिय जातियां सम्मिलित थीं। ये लोग ऋग्वैदिक काल में कुरुक्षेत्र, पांचाल, मत्स्यदेश और सुराष्ट्रदेश में बसे थे। जब आर्यगण सप्त सिन्धु देश में से होते हुए कुरुभूमि में आबाद हुए और यहां पंचजन क्षत्रियों की धार्मिक संस्कृति के सम्पर्क में आये तो उससे प्रभावित होकर इन्होंने भी उनके आराध्यदेव वृषभ को 'अग्नि' संज्ञा से अपना आराध्यदेव बना लिया। यह ऐतिहासिक तथा कश्यपगोत्री मरीचिपुत्र ऋषि ने अग्निदेव की स्तुति करते हुए ऋग्वेद १-९ में 'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्' शब्दों द्वारा स्वयं व्यक्त किया है।

इस सूक्त के नौ मन्त्र हैं। इनमें से पहते सात मन्त्रों के अन्त में ऋषिवर ने उक्त शब्दों को पुनः पुनः दोहराया है। इसका अर्थ है कि—देवा (अपने को देव संज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगण ने) द्रविणो दा (धनैश्वर्य प्रदान करने वाले) अग्नि (अग्नि प्रजापति को) धारयन् (अपना आराधना-देव धारण कर लिया।)

प्रस्तुत सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें प्रथम तो भगवान् वृषभ की स्तुति में गाये जाने वाले ऋक्, यजु, साम एवं अथर्व संहिताओं में संकलित स्तोत्रों से भी प्राचीन उन निविद अथवा निगद स्तोत्रों का उल्लेख है, जिनसे ध्वनित होता है कि भगवान् वृषभ आर्यगण के आने से पूर्व ही भारत के आराध्यदेव थे, इसके अतिरिक्त इस सूक्त में भगवान् वृषभ द्वारा मनुओं की सन्तानीय प्रजा को अनेक विद्याओं से समृद्ध करने, अपने पुत्र भरत को राज्यभार सौंपने तथा अपने अन्य पुत्र वृषभसेन को, जैन मान्यता के अनुसार भगवान के ज्येष्ठ गणधर अथवा मानसपुत्र थे, ब्रह्मविद्या देने का भी उल्लेख है। इस सूक्त के निम्नांकित प्रथम चार मंत्रों से उल्लिखित तत्थों की स्पष्टतः संपुष्टि होती है।

(इ) खारबेल के शिलालेख (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में भी ऋषभ जिन का उल्लेख अग्ग जिन के रूप में हुआ है (नन्दराजनीतान अगजिनस)।

(ई) 'प्रजापतिः देवतानः सृज्यमान अगिनमेव देवानां प्रथममसृजत्'। तैत्तिरीय ब्राह्मण, २१, ६, ४।

(उ) 'अगिनर्व सर्वाद्यम्।'—ताण्ड्य ब्राह्मण, ५,९३।

१. 'जना यदगिनमजयन्त पञ्च।' ऋग्वेद। १०, ४५, ६।

'अपश्चमित्रं (जो संसार का मित्र है।) धिपणा च साधन (जो ध्यान द्वारा साध्य है), प्रत्नथा (जो पुरातन है), सहसा जायमानः (जो स्वयंभू है) सद्यः काव्यानि षडधन्त विश्वा (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रों को धारण करता रहता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), देवो अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् (देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि को धारण कर लिया।)[१]

पूर्वया निविदा काव्यतासोः (जो प्राचीन निविदों द्वारा स्तुति किया जाता है), यमाः प्रजा अजन्यन् मनुनाम् (जिसने मनुओं की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) विवस्वता चक्षुषा द्याम पञ्च (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किये हुए हैं, देवों ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया।)[२]

तमीडेत महासंघ (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्वप्रथम मोक्ष का साधक है), अर्हतं (सर्वपूज्य) है, आरोविशः उज्जः भृज्जसानम् (जिसने स्वयं शरण में आने वाली प्रजा को बल से समृद्ध करके), पुत्रं भरतं सम्प्रदानुं (अपने पुत्र भरत को सौंप दिया), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्नि देवता को) धारयन् (धारण कर लिया।)[३]

स मातरिश्वा (वह वायु के समान निर्लेप और स्वतन्त्र है), पुरुवार पुष्टि (अभीष्ट वस्तुओं का पुष्टिकारक साधन है), उसने स्वर्वितं (ज्ञान सम्पन्न होकर), तनयाय (पुत्र के लिये) गातं (विद्या), विदद (देदी), वह विशांगोपा (प्रजाओं का संरक्षक है,) पवितारोदस्योः (अभ्युदय तथा निःश्रेयस का उत्पादक है), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्रनेता को) ग्रहण कर लिया।[४]

निर्वाण की पुण्य वेला में जब आदि प्रजापति वृषभ ने विनश्वर शरीर का त्याग करके सिद्ध लोक को प्रस्थान किया तो उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन के लिये उनके वीतराग रूप की एकमात्र संस्मारक बनकर रह गई। जनता अब अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य के दर्शन पाने लगी। उस समय मूर्तिकला का विकास नहीं हुआ था, अतः यह सप्तजिह्वा अग्नि ही उस महामानव का प्रतीक बन गई। उपलब्ध प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि भगवान् के प्रति जन-जन के हृदयों में स्वभावतः उद्दीप्त होने वाले भक्तिभाव को सन्तुष्ट एवं संतृप्त करने के लिए उनके ज्येष्ठ गणधर (मानस पुत्र) ने इस भौतिक अग्नि द्वारा आदि ब्रह्मा वृषभ के उपासनार्थ इज्या, पूजा एवं

---

१. ऋग्वेद, १, ९, १।
२. वही, १, ९, २।
३. ऋग्वेद १, ९, ३।
४. वही, १, ९, ४।

अर्चना का मार्ग निकाला था। वह याज्ञिक प्रक्रिया के प्रथम विधायक थे।[१] उन्होंने ही लोकमंगल के लिये अभीष्टसिद्धि, अनिष्टपरिहार एवं रोग-निवृत्तिकर आदि अनेक उपयोगी मन्त्र-तन्त्र विद्याओं का सर्वप्रथम प्रकाश किया था। वह वैदिक परम्परा में ज्येष्ठ अथर्वन और जैन परम्परा में ज्येष्ठ गणधर के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैन परम्परा के अनुसार यह भगवान् वृषभदेव के पुत्र वृषभसेन थे। भगवान् ने इन्हें ही समस्त विद्याओं में प्रधान ब्रह्मविद्या देकर लोक में अपना उत्तराधिकारी बनाया था।[२]

इनके द्वारा तथा अन्य अथर्वनों (गणधरों) द्वारा प्रतिपादित अनेक तान्त्रिक विधानों तथा वृषभ के हिरण्यगर्भ, जातवेदस् जन्य उग्र तपस्या, सर्वज्ञता देशना, सिद्धलोकप्राप्ति सम्बन्धी अनेक रहस्यपूर्ण वार्ताओं तथा यतिव्रात्य श्रमणों की आध्यात्मिक चर्चा का संकलन चौथे वेद में हुआ है। अतः इसकी प्रसिद्धि अथर्ववेद के नाम से हुई।

अथर्वन द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार अग्नि में हव्य द्रव्य की आहुति देकर सर्वप्रथम वृषभ की पूजा उनके ज्येष्ठपुत्र तथा भारत में आदि चक्रवर्ती भरत महाराज, जो मनु के नाम से भी प्रसिद्ध थे, ने की थी। इसके पश्चात् उनका अनुकरण करते हुए समस्त प्रजाजन भगवान् वृषभदेव के प्रतीक रूप में अग्नि की पूजा में प्रवृत्त हुए।[३]

उक्त प्रक्रिया के अनुसार यह पूजा प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों काल होती थी। अथर्ववेद अनड्वान सूक्त में इस पूजा का फल बतलाते हुए कहा है कि जो इस प्रकार प्रतिदिन तीनों समय भगवान् वृषभ की पूजा करते हैं वे उन्हीं के समान अविनाशी अमरपद के अधिकारी हो जाते हैं।[४]

---

१. (अ) सत्यव्रात सामश्रमी निरत्कालोचन वि० सं० १९५३ पृ० सं० १५५।
(आ) A. C. Das—Rigvedic Culture pp. 113-115.
(इ) Dr. Winternitz—History of India Literature Vol I, 1927-P. 120.
(ई) 'अग्निजीतो अथर्वना'—ऋग्वेद १०, २१, ५।

२. (अ) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
मुण्डकोपनिषद् १, १।
(आ) 'स्वर्वितनयाय गातं विदद।' ऋग्वेद १, ६९, ४।

३. (अ) 'मनुर्हवा अग्रे यज्ञे नेजं तद्नुकृत्येमा प्रजा यजन्ते।'
शतपथ ब्राह्मण, १५, १, ७।
(आ) जिनसेनकृत आदिपुराण, पर्व ४७, ३२२,३५१।

४. अथर्ववेद ४, ११, १२।

प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि अथर्वन द्वारा बतलाई गई याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अज (जौ)[१] अक्षत (चावल) तथा घृत—इनका प्रयोग आहुति के लिये किया जाता था और पूजा के समय भगवान् वृषभ का सान्निध्य बनाये रखने के लिये 'वषट्' शब्द का और उनके अर्थ आहुति देते समय उन द्वारा घोषित-स्वात्म महिमा को ध्यान में रखने के लिए 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग आवश्यक था। क्योंकि 'वषट्' उच्चारण द्वारा भौतिक अग्नि की स्थापना करते हुए उपासक जन वास्तव में वृषभ भगवान् की ही स्थापना करते हैं। और 'स्वाहा' शब्द द्वारा भौतिक अग्नि में आहुति देते हुए भी अपनी आत्म-महिमा को ही जागृत करते हैं। 'वषट्' शब्द का उच्चारण किये बिना अग्नि की उपासना भौतिक अग्नि की ही उपासना है।

जैन पूजाग्रन्थों तथा उनके दैनिक पूजा विधानों में वौषट् (इति आह्वाननम्) ठः ठः (इतिस्थापनम्), और वषट् (इति सन्निधीकरणम्)—इन तीन शब्दों द्वारा भगवान् का आह्वान, स्थापन तथा सन्निधीकरण किया जाता है। उक्त बीजमन्त्रों के कोष्ठकों में दिये गये अर्थ जैन परम्परा में अत्यन्त प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। जो भगवत्पूजा के लक्ष्य के सम्बन्ध में भी भक्तजन को इस नवीन दृष्टि का दान करते हैं।

इस प्रकार अग्नि द्वारा पूजा-विधि की परम्परा उतनी ही प्राचीन निश्चित होती है जितना भगवान् वृषभदेव का काल।

वृषभ के विविधरूप और इतिवृत्त

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव अपने पूर्व जन्म में सर्वार्थसिद्धि विमान में एक महान ऋद्धिधारी देव थे। आयु के अन्त में उन्होंने वहां से चयकर अयोध्यानरेश नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ में अवतरण किया। इनके गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही नाभिराय का भवन कुबेर के द्वारा हिरण्य की वृष्टि से भरपूर कर दिया गया। अतः जन्म लेने के पश्चात् यह हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध हुए। गर्भावतार के समय भगवान् की माता ने स्वप्न में एक सुन्दर बैल को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रक्खा गया। जन्म से ही यह मति, श्रुत, अवधि इन तीनों ज्ञानों से विशिष्ट थे, अतः इनकी जातवेदस् नाम से प्रसिद्धि हुई। बिना किसी गुरु की शिक्षा के ही अनेक विद्याओं के ज्ञाता थे, इन्होंने जन्म-मृत्यु से अभिव्याप्त संसार में स्वयं सत्, ऋत, धर्म एवं मोक्षमार्ग का साक्षात्कार किया था, अतः वह स्वयंभू तथा सुकृत नामों से प्रसिद्ध हुए। भोगयुग की समाप्ति पर इन्होंने ही प्रजा को कृषि, पशुपालन तथा

---

१. "अजैर्यष्टके।"—जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, २७, ३८, १६४।

विविध शिल्प-उद्योगों की शिक्षा प्रदान की थी, अतः यह विधाता, विश्वकर्मा एवं प्रजापति नामों से विख्यात हुए। ये ही अपनी अन्तःप्रेरणा से संसार—शरीर तथा भोगों से निर्विण्ण हुए तथा संयम एवं स्वाधीनतापथ के पथिक बनकर प्रव्रजित हुए, अतः वशी, यति एवं व्रात्य नामों से प्रसिद्ध हुए।

इन्होंने अपनी उग्र तपस्या, श्रमसहिष्णुता और समवर्तना द्वारा अपने समस्त दोषों को भस्मसात् किया, अतः यह रुद्र, श्रमण आदि संज्ञाओं से विख्यात हुए। इन्होंने अज्ञानतमस् का विनाश करके अपने अन्तस् में सम्पूर्ण ज्ञान-सूर्य को उदित किया, भव्य जीवों को धार्मिक प्रतिबोध दिया और अन्त में देह त्यागकर सिद्ध लोक में अक्षय पद की प्राप्ति की।

जैन परम्परा में जो वृत्त गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिन्हें लोक-कल्याणी होने से कल्याणक की संज्ञा दी गई है। वैदिक परम्परा में वही (१) हिरण्यगर्भ, (२) जातवेदस्, अग्नि, विश्वकर्मा, प्रजापति, (३) रुद्र, पुरुष, व्रात्य, (४) सूर्य, आदित्य, अर्क, रवि, विवस्वत, ज्येष्ठ, ब्रह्मा वाक्पति, ब्राह्मणस्पति, बृहस्पति, (५) निगूढपरमपद, परमेष्ठीपद, साध्यपद, आदि संज्ञाओं से प्रसिद्ध है।

मध्य शशिया, लघु एशिया, उत्तर पूर्वीय अफ्रोका के सुमेर, वैवीलोनिया, सीरिया, यूनान, अरब, ईरान, मिश्र, यूथोपिया आदि संसार के समस्त प्राचीन देशों में जहाँ भी पणि अथवा फणि और पुरु लोगों के विस्तार के साथ भारत से भगवान् वृषभ की श्रुतियां, सूक्तियाँ और आख्यान पहुंचे हैं।[१] वहां भगवान् अशुर (असुर), ओसोरिस (असुरशि) अहुरमज्द (असुरमहत्), ईस्टर (ईषतर), जहोव (यह्व महान) गौड (गौर गौड) अल्ला (ईड्य स्तुत्य) I A M (अहमस्मि), सूर्यस् (सूर्य) रवि, मिथ (मित्र) वरुण आदि अनेक लोक-प्रसिद्ध नामों और विशेषणों द्वारा आराध्यदेव ग्रहण कर लिये गये। यही कारण है कि इन देशों के प्राचीन आराध्यदेव सम्बन्धी जो रहस्यपूर्ण आख्यान परम्परागत सुरक्षित हैं, उनमें उपर्युक्त चार वृत्त "1. In Carnation 2. Suffering and Crucification 3. Ressurrection और 4. Ascent to Heaven के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार उन सूक्तों और मन्त्रों के अतिरिक्त जिनमें स्पष्टतः ऋषभ वृषभ, गौर तथा अनड्वान का उल्लेख है, ऋक् यजु, साम तीनों ही संहिताओं के प्रायः समस्त छन्द, जिनमें उपर्युक्त संज्ञाओं और विशेषणों से स्तुति की गई है, भगवान् वृषभ की ओर ही संकेत करते हैं।

---

१. Dr. H. R. Hall : The ancient History of far Eost 104, 77, 158 203, 367, 402.

अथर्ववेद के इस तथ्य को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आपः (जल), वातः (वायु) और औषधि (वनस्पति)—तीनों एक ही भवन (पृथ्वी) के आश्रित हैं, उसी प्रकार ऋक्, यजु, साम—तीनों प्रकार के छन्दों को कविजन पुरस्यं दर्शतं विश्व चक्षणन् (बहुरूप दिखलाई देने वाले एक विश्ववेदस् सहस्राक्ष, सर्वज्ञ को लक्ष्य रखकर ही वियेतिरे (व्याख्या करते हैं)।[१]

ऋग्वेद के निम्नांकित दो मन्त्रों में हम भगवान् वृषभदेव के तथोक्त रूपों एवं वृत्तों का वैसा ही इतिहास-क्रमानुसारी वर्णन देख सकते हैं, जैसा कि जैन परम्परा विधान करती है। वे मन्त्र निम्न प्रकार हैं :[२]

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरूपं द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्त्रमिधान एवं जाते स्वाधीः॥"

अर्थात् अग्नि प्रजापति पहले देवलोक में प्रकट हुए, द्वितीय बार हमारे बीच जन्मतः ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रकट हुए। तीसरा इनका वह स्वाधीन एवं आत्मवान् रूप है, जब इन्होंने भव-सागर में रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्मेन्धन को जला दिया। तथा—

"विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परम गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगंथ॥"[३]

अर्थात् हे अग्रनेता, हम तेरे इन तीन प्रकार के तीन रूपों को जानते हैं। इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व के बहुत प्रकार से धारण किये हुए रूपों को भी हम जानते हैं। इनके अतिरिक्त तेरा जो निगूढ़ परमधाम है उसको भी हम जानते हैं। और उच्च मार्ग को भी हम जानते हैं जिससे तू हमें प्राप्त होता है।

उक्त श्रुति से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में भगवान् वृषभ के पूर्व जातक लोक में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

वैदिक रुद्र के विकसित रूप

शतपथ ब्राह्मण[४] में रुद्र के जो-रुद्र, सर्व पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार—ये नौ नाम हैं, वे अग्निदेव के ही विशेषण उल्लिखित किये गये हैं

---

१. अथर्ववेद। १८, १, १।
२. ऋग्वेद, १०, ४५, १।
३. वही, १०, ४५, २।
४. तान्येतानि अष्टौ रुद्रःशर्वःपशुपति उग्रः अशनिः भवः।
महान्देवः ईषानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम्॥—शतपथ ब्राह्मण ६,१,३,१८।

और 'वृषभदेव तथा वैदिक अग्निदेव' में उपस्थित किये गये विवरण से स्पष्ट है कि भगवान वृषभदेव को ही वैदिक काल में अग्निदेव के नाम से अभिहित किया जाता था। फलतः रुद्र, महादेव, अग्निदेव, पशुपति आदि वृषभदेव के ही नामान्तर हैं।

वैदिक परम्परा में वैदिक रुद्र को ही पौराणिक तथा आधुनिक शिव का विकसित रूप माना जाता है, जबकि जैन परम्परा में भगवान् ऋषभदेव को ही शिव उनके मोक्ष-मार्ग को शिवमार्ग तथा मोक्ष को शिवगति कहा गया है। यहाँ रुद्र के उन समस्त क्रम-विकसित रूपों का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऋग्वेद में रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता हैं। उनकी स्तुति में तीन पूर्ण सूक्त कहे गए हैं[१] इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त में पहले मन्त्र छह रुद्र की स्तुति में हैं और अन्तिम तीन सोम की स्तुति में।[२] एक अन्य सूक्त में रुद्र और सोम का साथ स्तवन किया गया है।[३] अन्य देवताओं की स्तुति में भी जो सूक्त कहे गये हैं, उनमें भी प्रायः रुद्र का उल्लेख मिलता है, इन सूक्तों में रुद्र के जिस स्वरूप को वर्णना हुई है, उसके अनेक चित्र हैं और उनके विभिन्न प्रतीकों के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न मान्यताएँ हैं। रुद्र का शाब्दिक अर्थ मरुतों के साथ उनका संगमन, उनका वभ्रू वर्ण और सामान्यतः उनका क्रूर स्वरूप इन सब को दृष्टि में रखते हुए कुछ विद्वानों की धारणा है कि रुद्र झंझावात के प्रतीक हैं। जर्मन विद्वान बेबर ने रुद्र के नामपर बल देते हुए अनुमानित किया है कि रुद्र झंझावात के 'रव' का प्रतीक हैं।[४] डाक्टर मेकडौनल ने रुद्र और अग्नि के साम्य पर दृष्टि रखते हुए कहा कि रुद्र विशुद्ध झंझावात का नहीं, अपितु विनाशकारी विद्युत के रूप में झंझावात के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक है।[५] श्री भाण्डारकर ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों का ही प्रतीक माना है।[६] अंग्रेज विद्वान मयूर की भी यही मान्यता है।[७] विल्सन् ने ऋग्वेद की भूमिका में रुद्र को अग्नि अथवा इन्द्र का ही प्रतीक माना है।[८] प्रो० कीथ ने रुद्र को झंझावात के विनाशकारी रूप का ही

---

१. ऋग्वेद : १, ११४, २, ३३, ७, ४६।
२. ऋग्वेद १, ४३।
३. वही : ६,७४।
४. बेबर : इण्डीश स्टूडीन, २, १९—२२।
५. मेकडौनल : वेदिक मायीथोलोजी, पृष्ठ सं० ७८।
६. भाण्डारकर: वैष्णविज्म, शैविज्म।
७. मयूर : ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स।
८. विल्सन : ऋग्वेद, भूमिका·

प्रतीक माना है, उसके हितकर रूप का नहीं।[१] इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक वाणों का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानों ने उन्हें मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन में उन्होंने ऋग्वेद का वह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमें रुद्र का केशियो के साथ उल्लेख किया गया है।

रुद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन्' है,[२] जिसका अर्थ है, जटाजूटधारी और एक अन्य उपाधि है 'कल्पलोकिन्',[३] जिसका अर्थ है, दहकनेवाला। दोनों की सार्थकता रुद्र के केशी तथा अग्निदेव रूप में हो जाती है।

अपने सौम्य रूपों में रूद्र को 'महाभिषक्' बतलाया गया है, जिसकी औषधियाँ ठंडी और व्याधिनाशक होती हैं, रुद्र सूक्त में रुद्र का सर्वज्ञ वृषभ रूप से उल्लेख किया गया है और कहा गया है।[४] 'हे विशुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ, हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों।"

इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में कहा है[५] — 'हे मरुतो, तुम्हारी जो निर्मल औषधि है, उस औषधि को हमारे पिता मनु (स्वयं ऋषभनाथ) ने चुना था, वही सुखकर और भयविनाशक औषधि हम चाहते हैं।'

बिशुद्ध आत्म-तत्वज्ञान ही यह औषधि है, जिसे प्राप्तकर रुद्रभक्त संसारजयो और सुखी होने की कामना करता है। प्रस्तुत सूक्त के तृतीय मन्त्र में उसकी जीवन साधना देखिए। वह प्रार्थना करता है।[६]

'हे वज्रसंहनन रुद्र, तुम उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों में सर्वाधिक सुशोभित हो, सर्वश्रेष्ठ हो और समस्त बलशालियों में सर्वोत्तम बलशाली हो। तुम मुझे पापों से मुक्त करो और ऐसी कृपा करो, जिससे मैं क्लेशों तथा आक्रमणों से युद्ध करता हुआ विजयी रहूं।'

---

१. कीथ : रिलिजन एण्ड माइथोलोजी आफ दी ऋग्वेद, पृष्ठ सं० १४७
२. ऋग्वेद : १, ११४, १ और ५।
३. वही : १, ११४, ५।
४. एव वभ्रो बृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषं न हंसि। ऋग्वेद : २,३३,१५।
५. या वो भेषजः मरुतः शुचीनि या शान्तमा वृषणों या मयोमु।
यानि मनुर्वृणीता पिता नस्ताशंच योश्च रुद्रस्य बश्मि।—वही २,३३,१३।
६. श्रेष्ठो जातस्य रुद्रः श्रियांसि तवस्तमस्तवसां वज्रवाहो।
पर्षिणः पारमहंसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि।—वही २,३३,३

एक सूक्त में रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[१] और अन्यत्र सोम को वृषभ की उपाधि दी गई है।[२] रुद्र को अनेक बार अग्नि कहा गया है[३] और एक स्थल पर उन्हें "मेधापति" की उपाधि से भी विभूषित किया गया है।[४] एक स्थान पर "द्विवर्हा" के रूप में भी उल्लेख किया गया है, जिसका सायण ने अर्थ किया है —अर्थात् जो पृथ्वी तथा आकाश में परिवृद्ध हैं।[५]

ऋग्वेद के उत्तरभाग के एक सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया। इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि केशी इस विष (जीवनस्रोत-जल) को उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को।[६] यद्यपि शायण ने केशी का अर्थ सूर्य किया है, परन्तु केशी का शाब्दिक अर्थ जटाधारी होता है और इस सूक्त के तीसरे तथा बाद के मन्त्रों में केशो की तुलना उन मुनियों से की गई है जो अपनी प्राणोपासना द्वारा वायु की गति को रोक लेते हैं और मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (परमानन्द सहित) वायुभाव (अशरीरी वृत्ति) को प्राप्त होते हैं और सांसारिक मर्त्यजनों का जिनका केवल पार्थिव शरीर ही दिखलाई देता है।[७]

अथर्ववेद में भी श्री रुद्र का व्याधि विनाश के लिये आह्वान किया गया है।[८] कुछ मन्त्रों में रुद्र को 'सहस्राक्ष' भी कहा गया है।[९] इसी वेद के पन्द्रहवें मण्डल में रुद्र का व्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है और सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि 'व्रात्य महादेव बन गया, व्रात्य ईशान बन गया है।[१०] तथा यह भी लिखा है कि "व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी।[११]

---

१. ऋग्वेद : ६,७४।
२. वही : ९,७,३।
३. वही : २, १, ६, ३, २, ५।
४. वही : १, ४३, ४।
५. वही : १, ११४, ६।
६. ऋग्वेद : १, १७२, १, १, ६४, ८तथा ९, ५, ३३, ५, ५, ६१, ४ आदि।
७. ऋग्वेद : १०, १३६, २-३।
८. अथर्ववेद : ६, ४४, ३, ६ ५७, १, १९, १० ६।
९. वही : ११, २, ७।
१०. वही : १५, १, ४, ५।
११. व्रात्य आसी दीपमान एव स प्रजापतिं समैश्यत।—अथर्ववेद १५, १।

सायण ने व्रात्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—कंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्य-मनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम् अर्थात् वहाँ उस व्रात्य से मन्तव्य है, जो विद्वानों में उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मणविद्वेष करते हैं।

इस प्रकार व्रतधारी एवं संयमी होने के कारण ही इन्हें व्रात्य नहीं कहा जाता था, अपितु शतपथ ब्राह्मण के एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि वृत्र (अर्थात् ज्ञान द्वारा सब ओर से घेर कर रहने वाला सर्वज्ञ) को अपना इष्टदेव मानने के कारण भी यह जनव्रात्य के नाम से अभिहित किये जाते थे।[१]

जर्मन विद्वान् डाक्टर हौएर का मत है[२] कि यह व्रात्यों के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यों को आकर्षित किया और वैदिक विचारधारा तथा धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। दूसरी ओर श्री एन० एन० घोष अपनी नवीन खोज के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचे हैं[३] कि प्राचीन वैदिक काल में व्रात्य जाति पूर्वी भारत में एक महान् राजनीतिक शक्ति थी। उस समय वैदिक आर्य एक नये देश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए लड़ रहे थे और उनको सैन्यबल की अत्यधिक आवश्यकता थी। अतः उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से व्रात्यों को अपने दल में मिला लिया। व्रात्यों को भी संभवतः आर्यों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों ने आकृष्ट किया और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिये तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यों से मिल जाने पर उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरों में 'पुंश्चली' और "मागध" का उल्लेख होना (ये दोनों ही पूर्व देशवासी तथा आर्येतर जाति के हैं), आर्यो से पहले भी भारतवर्ष में अतिविकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाणस्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि तथ्य श्री एन० एन० घोष के निर्णय की ही पुष्टि करते हैं।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तथा लघु एशियाई पुरातत्त्व एवं मोहन-जोदड़ो तथा हड़प्पा नगरों की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया तथा मध्य एशिया के देशों से होते हुए त्रेता युग के आदि में लगभग ३००० ई० पूर्व में इलावत और उत्तर पश्चिम के द्वार से पंजाब में आये थे। उस समय पहले से ही द्राबिड़ लोग गान्धार

---

१. वृत्रो हवा इदं सर्वं वृत्वा शिश्यो यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवीय यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद वृत्रो नाम। "शपतथ ब्राह्मण ११,३,४।

२. होएरः दर व्रात्य (Vratya)

३. एन० एन० घोष : इण्डो आर्यन लिटेरेचर एण्ड कल्चर (Orgin) १९३४ ई०

से विदेह तक तथा पांचाल से दक्षिण के मय देश तक अनेक जातियों में विभक्त होकर विभिन्न जनपदों में निवास कर रहे थे। इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एवं समुन्नत थी एवं शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे। ये जहाजों द्वारा लघु एशिया तथा उत्तरपूर्वीय अफ्रीका के दूरवर्ती देशों के साथ व्यापार करते थे।

ये द्राविड़ लोग सर्प-चिह्न का टोटका अधिक प्रयोग में लाने के कारण नाग, अहि, सर्प, आदि नामों से विख्यात थे। श्याम वर्ण होने के कारण 'कृष्ण' कहलाते थे। अपनी अप्रतिम प्रतिभाशीलता तथा उच्च आचार-विचार के कारण ये अपने को दास व दस्यु (कान्तिमान) नामों से पुकारते थे। व्रतधारी एवं वृत्र का उपासक होने से व्रात्य तथा समस्त विद्याओं के जानकार होने से द्राविड़ नाम से प्रसिद्ध थे। संस्कृत का विद्याधर शब्द 'द्रविड़' शब्द का ही रूपान्तर है। ये अपने इष्टदेव को अर्हत, परमेष्ठी, जिन, शिव एवं ईश्वर के नामों से अभिहित करते थे। जीवनशुद्धि के लिये ये अहिंसा, संयम एवं तपोमार्ग के अनुगामी थे। इनके साधु दिगम्बर होते थे और बड़े बड़े बाल रखते थे। अन्य लोग तपस्या एवं श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे।[१]

यजुर्वेद में एक स्थल पर रुद्र का 'किवि'[२] (ध्वंसक या हानिकर) के रूप में उल्लेख किया गया है और अन्यत्र 'द्रौव्रात्य' शब्द[३] का प्रयोग किया गया है, भाष्यकार महीधर ने जिसका अर्थ—उच्छृंखल आचरण' किया है। इसके अतिरिक्त उनके धनुष तथा तरकस को 'शिव' कहा गया है।[४] उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों को मित्र के पथ पर ले चलें, न कि भयंकर समझे जाने वाले अपने पथ पर।[५] भिषक् रूप में उनका स्मरण किया है और मनुष्य तथा पशुओं के लिये स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिये भी उनसे प्रार्थना की गई है।[६] यहाँ रुद्र का 'पशुपति' रूप में भी उल्लेख मिलता है।[७]

यजुर्वेद के त्र्यम्बक होम'[८] सूक्त में रुद्र के साथ एक स्त्री देवता 'अम्बिका' का भी उल्लेख किया गया है, जो रुद्र की बहिन बतलाई गई है। इन्हें 'कृतिवासा'

---

१. "ये नातरन्भूतकृतोतिमृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण।"—अथर्ववेदः ४,३५।

२. यजुर्वेदः (वाजसनेयी संहिता) १०,२०।

३. वही : (वाजसनेयी संहिता) ३९, ९, तथा महीधर का भाष्य-दुष्टं स्खलनोच्छल-नादि व्रतम्।

४. वही : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १।

५. वही : (तैत्तिरीय संहिता) १, २, ४।

६. वही : (तैत्तिरीय संहिता) १, ८, ६।

७. वही : (वाजसनेयी संहिता) ९,३,९,३,९,८। (तैत्तिरीय) १,८,६।

८. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) १,८,६ (वाजसनेयी) ३,५७,६३।

कहा गया है और मृत्यु से मुक्ति तथा अमृतत्व की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है, उनके विशेष वाहन मूषक का भी उल्लेख किया गया है तथा उन्हें यज्ञभाग देने के पश्चात् 'मूजवत' पर्वत से पार चले जाने का भी अनुरोध किया गया उपलब्ध होता है। मूषक जैसे धरती के नीचे रहने वाले जन्तु से उनका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत-कन्दराओं में रहने वाला माना जाता था तथा "मूजवत" पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध इस बात का व्यंजक हो सकता है कि इस देवता का वास भारतीय पर्वतों में माना जाता था। "कृतिवासा" उपाधि से प्रतीत होता है कि उसका अपना चर्म ही उसका वस्त्र था—अर्थात् वह दिगम्बर था।

"शतरुद्रिय स्तोत्र"[१] में रुद्र की स्तुति में ६६ मंत्र हैं, जो रुद्र के यजुर्वेद-कालीन रूप के स्पष्ट परिचायक हैं। रुद्र को यहां पहली बार 'शिव'। शिवतर तथा 'शंकर' आदि रूपों में उल्लिखित किया गया है। 'गिरिशंत' 'गिरित्र' 'गिरिशा' 'गिरिचर' गिरिशय'—इन नवीन उपाधियों से भी उन्हें विभूषित किया गया है। 'क्षेत्रपति' तथा 'वणिक्' भी निर्दिष्ट किये गये हैं। प्रस्तुत स्तोत्र के बीस से बाईस संख्या तक के मन्त्रों में रुद्र के लिये कतिपय विचित्र उपाधियों का प्रयोग किया गया है, अब तक रुद्र के माहात्म्य का गान करने वाला स्तोता उन्हें इन उपाधियों से विभूषित करता है—स्तेनानां पति (चोरों का अधिराज), वंचक, स्तायूनां पति (ठगों का सरदार), तस्कराणां पति, मुष्णतां पति, विकृन्तानां पति (गलकटों का सरदार) कुलुंचानां पति, आदि। इसके अतिरिक्त इनमें 'सभा' 'सभापति' 'गण' 'गणपति' आदि के रुद्र के उपासकों के उल्लेख के साथ 'व्रात', 'व्रातपति', तक्षक, रथकार, कुलाल, कर्मकार, निषाद, आदि का भी निर्देश किया गया है।

ब्राह्मण ग्रंथों के समय तक रुद्र का पद निश्चित रूप से अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया था और वह 'महादेव' कहा जाने लगा था।[२] जैमनीय ब्राह्मण में कहा गया है[३] कि देवताओं ने प्राणीमात्र के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की। रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था, जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ और जिनके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया।

श्वेताश्वतर उपनिषद से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रंथों के समय से रुद्र के पद में कितना उत्कर्ष हो चुका था। इसमें उन्हें सामान्यतः ईश, महेश्वर, शिव और

---

१. वही : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १।
२. कौशीतकी : २१, ३।
३. जैमिनीय : ल, २६१, ६३।

ईशान कहा गया है।[१] वह मोक्षाभिलाषी योगियों के ध्यान के विषय है और उनको एक स्रष्टा, ब्रह्म और परमात्मा माना गया है।[२] इस काल में वह केवल जन सामान्य के ही देवता नहीं थे। अपितु आर्यों के सबसे प्रगतिशील वर्गों के आराध्यदेव भी बन चुके थे। इस रूप में उनका सम्बन्ध, दार्शनिक विचारधारा और योगाभ्यास के साथ हो गया था, जिसको उपनिषद के ऋषियों ने आध्यात्मिक उन्नति का एक मात्र साधन माना था। अपर वैदिककाल में योगी, चिन्तक और शिक्षक के रूप में जो शिव की कल्पना की गई है वह भी इसी सम्बन्ध के कारण थी। श्वेताश्वर उपनिषद् में रुद्र को ईश, शिव और पुरुष कहा गया है। लिखा है कि प्रकृति पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा वह विविध रूप विश्व की सृष्टि करता है।[३] पुरुष स्वयं स्रष्टा नहीं, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बनाकर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप में काम करता है।[४] इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक रुद्र उन लोगों के अराध्य देव बन गये थे जो सांख्य विचार-धारा का विकास कर रहे थे। प्रश्नोपनिषद् में रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है और प्रजापति से उसका तादात्म्य प्रकट किया गया है।[५] मैत्रायणी उपनिषद् में रुद्र की 'शम्भु' (अर्थात् शान्तिदाता) उपाधि का पहली बार उल्लेख हुआ।[६]

श्रौत-सूत्रों में रुद्र की उपासना का वही स्वरूप उपलब्ध होता है जैसा ब्राह्मण ग्रंथों में। यहाँ रुद्र का रूप केवल एक देवता है और उनके रुद्र, भव, शर्व आदि अनेक नामों का उल्लेख है।[७] महादेव, पशुपति, भूतपति आदि उपाधियों से भी विभूषित किया गया है।[८] रुद्र से मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।[९] उन्हें रोगनाशक औषधियों का दाता[१०] और व्याधिनिवारक[११] कहा गया है। गृह्य सूत्रों में रुद्र की समस्त वैदिक उपाधियों का उल्लेख मिलता है,[१२] यद्यपि इनके

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-११-४-१०-४, ११,५ १६।
२. वही : ३,२-४,३,७,४,१०-२४।
३. श्वेताश्वतर उपनिषद ४,१।
४. वही : ४,५।
५. प्रश्नोपनिषद् २, ९।
६. मैत्रायणी उपनिषद् १५,८।
७. शांखायन श्रौतसूत्र : ४,१९,१।
८. वही : ४,२०,१४।
९. वही : ४,२०,१। आश्वलायन: ३,११,१
१०. लाणयन श्रौतसूत्र: ५,३,२।
११. शांखायन श्रौतसूत्र: ३,४,८।
१२. आश्वलायन गृह्यसूत्र: ४,१०।

'शिव' और शंकर ये नवीन नाम अधिक प्रचलित होते जा रहे हैं।[१] यहाँ उन्हें श्मशानों पुण्य तीर्थों एवं चौराहों जैसे स्थलों में एकान्त विहारी के रूप में चित्रित किया गया है।[२]

सिन्धु घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ संमिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया। इसके फलस्वरूप सिन्धु घाटी की स्त्री देवता का रुद्र की पूर्वसहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसे रुद्रपत्नी माना जाने लगा। इस प्रकार भारतवर्ष में देवी की उपासना आई और शक्तिमत का सूत्रपात हुआ। इसके अतिरिक्त जननेन्द्रियां सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना, जो सिन्धुघाटी के देवताओं की उपासना का एक अंग थी, का भी रुद्र की उपासना में समावेश हो गया। इसके अतिरिक्त 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी प्रारम्भ हो गई। परन्तु धीरे धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ में यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था। इस प्रकार भारत में लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ जो शैव धर्म का एक अंग बन गई। दूसरी ओर उपनिषदों से प्रतीत होता है कि रुद्र की उपासना का प्रचार नवीन धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधारा के प्रवर्त्तकों में हो रहा था, और ये लोग रुद्र को परब्रह्म मानते थे। सूत्रयुग में रुद्र को 'विनायक' की उपाधि दी गई और यही अपर वैदिक काल में गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। रुद्र तथा विनायक प्रारम्भ में एक ही देवता के दो रूप थे, परन्तु कालक्रम से यह स्मृति लुप्त हो गई और गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा।

उपनिषद्कालीन भक्तिवाद ने देश के धार्मिक आचार-विचार में युगान्तर उपस्थित कर दिया। कर्मकाण्ड का स्थान स्तुति, प्रार्थना तथा पूजा ने ले लिया और मन्दिरों के निर्माण के साथ मानवाकार तथा लिंगाकार में रुद्र-मूर्तियों की प्रतिष्ठा तथा पूजा आरम्भ हो गई तथा रुद्र का नाम भी अब शिव के रूप में लोकप्रचलित हो गया।

पाणिनि के समय में शिव के विकसित स्वरूप के प्रमाण वे सूत्र हैं, जिन्हें 'माहेश्वर'[३] बतलाया गया है। वैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी में रुद्र, भव और शर्व शब्दों का भी उल्लेख मिलता है।[४]

---

१. वही : २,१,२।

२. मानवगृह्यसूत्र २,१३,९,१४।

३. माहेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं—अ इ उ ण्, ऋ ऌ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्, ह य व र ट्, ल ण्, ञ म ङ ण न म्, झ भ ञ्, घ ढ ध ष्, ज ब ग ड द श्, ख फ छ ठ थ च ट त व्, क प य्, श ष स र्, हल्।

४. अष्टाध्यायी, १, ४९, ३, ५३, ४, १००।

रामायण में रुद्र के अत्याधिक विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। यहाँ उन्हें मुख्यतः 'शिव' कहा जाता है। महादेव, महेश्वर, शंकर तथा त्र्यम्बक नामों का अधिक उल्लेख मिलता है : यहां उन्हें देवताओं में सर्वश्रेष्ठ देव कहा गया है।[१] और अमर लोक में भी उनकी उपासना विहित दिखलाई गई है[२]। एक अन्य स्थल पर उन्हें अमर, अक्षर और अव्यय भी माना गया है।[३] एक स्थान पर उन्हें हिमालय में योगाभ्यास करते हुए दिखलाया गया है।[४] रामायण में शिव के साथ देवी की उपासना भी भक्त जन करते हैं। इन दोनों को लेकर जिस उपासनापद्धति का जन्म हुआ, वेदोत्तर काल में वही शैवधर्म का सर्वाधिक प्रचलित रूप बना। रामायण में शिव की 'हर'[५] तथा वृषभध्वज'[६] इन दो नवीन उपाधियों का भी उल्लेख मिलता है।

महाभारत में शिव को परब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वस्रष्टा, महाभूतों का एकमात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है। एक स्थल पर उन्हें सांख्य के नाम से अभिहित किया गया है और अन्यत्र योगियों के परम पुरुष नाम से।[७] वह स्वयं महायोगी हैं और आत्मा के योग तथा समस्त तपस्याओं के ज्ञाता हैं। एक स्थल पर लिखा है कि शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है[८] अनेक-स्थलों पर विष्णु के लिए प्रयुक्त की गई योगेश्वर[९] की उपाधि इस तथ्य की द्योतक है कि विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, और कोई भी मत इसके वर्तमान महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था।

महाभारत में शिव के एक अन्य नवीन रूप के दर्शन होते हैं और वह है उनका 'कापालिक' स्वरूप। यह स्वरूप मृत्युदेवता वैदिक रुद्र का विकसित रूप मालूम देता है। यहां उनकी आकृति भक्तिवाद के आराध्यदेव शिव की सौम्य आकृति के सर्वथा विपरीत एवं भयावह है वह हाथ में कपाल लिये हैं[१०] और

---

१. रांमायण, बालकाण्डः ४५, २२-२६, ६६, ११-१२, ६, १, १६, २७।
२. वही, १३, २१।
३. वही, ४, २९।
४. वही, ३६,२६।
५. रायायण, बालकाण्डः ४३, ६। उत्तरकाण्डः ४, ३२, १६, २७, ८७, ११।
६. वही, युद्धकाण्डः ११७, ३ उत्तरकाण्डः १६ ३५, ८५, १२।
७. महाभारत द्रोणः ७४, ५६, ६१। १६९, २९।
८. वही : अनुशासनः ९८, ८, २२।
९. अनुशासन वही : ९८, ७४ आदि।
१०. वनपर्व वही : १८८,५० आदि।

लोकवर्जित श्मशान प्रदेश उनका प्रिय आवास है जहाँ वह राक्षसों, वेतालों, पिशाचों और इसी प्रकार के अन्य जीवों के साथ विहार करते हैं[१] उनके गण को 'नक्तंचर' तथा 'पिशिताशन' कहा गया है।[२] एक स्थल पर स्वयं शिव को मांस भक्षण करते हुए तथा रक्त एवं मज्जा का पान करते हुए उल्लिखित किया गया है।[३]

अश्वघोष के बुद्धचरित में शिव का 'वृषध्वज' तथा 'भव' के रूप में उल्लेख हुआ है,[४] भारतीय नाट्यशास्त्र में शिव को 'परमेश्वर' कहा गया है।[५] उनको 'त्रिनेत्र' 'वृषांक' तथा 'नटराज' उपाधियों की चर्चा है।[६] वह नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और उन्होंने ही नाट्यकला को 'ताण्डव' दिया। वह इस समय तक महान् योगाचार्य के रूप में ख्यात हो चुके थे तथा इसमें कहा गया है कि उन्होंने ही 'भरत-पुत्रों' को सिद्धि सिखाई।[७] अन्त में शिव के त्रिपुरध्वंस का भी उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक 'डिम' (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था।[८]

पुराणों में शिव का पद बड़ा ही महत्वपूर्ण हो गया है। यहाँ वह दार्शनिकों के ब्रह्म हैं, आत्मा हैं, असीम हैं और शाश्वत हैं।[९] वह एक आदि पुरुष हैं, परम सत्य हैं तथा उपनिषदों एवं वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया है।[१०] बुद्धिमान और मोक्षाभिलाषी इन्हीं का ध्यान करते हैं।[११] वह सर्व हैं, विश्वव्यापी हैं, चराचर के स्वामी हैं तथा समस्त प्राणियों में आत्मरूप से बसते हैं।[१२] वह एक स्वयंभू हैं तथा विश्व का सृजन, पालन एवं संहार करने के कारण तीन रूप धारण

---

१. वही वनपर्व : ८३,३।
२. द्रोण पर्व : ५०,४९।
३. वही अनुशासन पर्व, १५१,७।
४. बुद्धचरित: १०,३,१,९३।
५. नाट्यशास्त्र : १,१।
६. वही : १.४५,२४,५,१०।
७. वही : १,६०,६५।
८. वही : ४,५,१०।
९. लिंग पुराण, भाग २,२१,४९, वायुपुराण: ५५,३, गरुड़पुराण: १६,६,७।
१०. सौरपुराण: २९, ३१, ब्रह्मपुराण: १२३,१९६।
११. वही : २ ८३, ब्रह्मपुराण: ११०,१००।
१२. वायु पुराण: ३०,२८३,८४।

करते हैं।[१] उन्हें 'महायोगी,,[२] तथा योगविद्या का प्रमुख आचार्य माना जाता है।[३] सौर[४] तथा वायु पुराण[५] में शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम माहेश्वर योग है। इन्हें इस रूप में 'यती',[६] 'आत्म-संयमी' 'ब्रह्मचारी'[७] तथा 'ऊर्ध्वरेताः'[८] भी कहा गया है। शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख है।[९] प्रभासपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है।[१०]

विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक जिनेन्द्र रुद्राष्टक का उल्लेख हुआ है, यद्यपि इसे अष्टक कहा गया है परन्तु पद्य सात ही हैं। इसमें जिनेन्द्र भगवान् का रुद्र के रूप में स्तवन किया गया है। बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, लोभ एवं मोहरूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ़ हैं, संसार रूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धिरूपी चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्धभावरूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रतरूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले हैं, गुण-गण रूपी मानव-मुण्डों के मालाधारी हैं, दस धर्मरूपी खट्वांग से युक्त हैं, तपःकीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं, सात भय रूपी उद्दाम डमरू को बजानेवाले हैं, अर्थात् वह सर्वथा भीतिरहित हैं, मनोगुप्ति रूपी सर्प परिकर से

---

१. वही : ६६,१०८, लिंग पुराण भाग १,११।

२. वही : २४,१५६ इत्यादि।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराणः भाग १,३,२०,६,४

४. सौर पुराणः अध्याय १२।

५. वायु पुराण अध्याय १०।

६. मत्स्यपुराणः ४७, १३८, वायुपुराणः १७,१६६।

७. वही, ४७,१३८,२६, वायुपुराणः २४,१६२।

८. मत्स्यपुराणः १३६,५, सौरपुराणः ७,१७,३८,१,३८,१४।

९. इत्यं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे। सतां गतिदीनबन्धुर्नवमः कथितवस्तव।
ऋषभस्य चरित्रं हि परमं पावनं महद्। स्वर्ग्यंपशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं च प्रलयतः।
—शिवपुराण ४,४७-४८

१०. कैलाशे विमलरम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः। चकार स्वावतार च सर्वहः सर्वगः शिवः॥
—प्रमासपुराण, ४९

वेष्टित हैं, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट जटा-कलाप से मण्डित हैं। तथा हुंकार मात्र से भय का विनाश करने वाले हैं।[१]

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञानरूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके हैं। जिन्होंने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण बाधाओं से निर्मुक्त हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो दिगम्बर मुनिव्रती अथवा मुनियों के पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोह रूपी अन्धकासुर के कबन्धवृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है।[२]

---

१. पापान्धकनिर्णाशं मकरध्वज-लोभ-मोहपुरदहनम्,
तपोभस्म भूषितांगं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ॥ १ ॥
संयमवृषभारूढं तप-उग्रमहत तीक्ष्णशूलधरम्,
संसारकरिविदारं जिनेन्द्ररुद्रम् सदा वन्दे ॥ २ ॥
विमलमतिचन्द्ररेख विचितसिलशुद्धभास्करपालम्,
व्रताचलशैलनिलय जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ॥ ३ ॥
गुणगणनरशिरमालं दशध्वजोद्भूतविदितखडबाङ्गम्,
तपः कीर्तिगौरिरचितं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ॥ ४ ॥
सलभयडाम डमरूकवाद्यं अनवरतप्रकटसंदोहम्,
मनोबद्धसर्षपरिकरं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ॥ ५ ॥
अनवरतसत्यवाचा विकटजटामुकुट कृतशोभम्,
हुंकारभयविनाशं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ॥ ६ ॥
ईशान शयनरचितं जिनेन्द्ररुद्राष्टकं ललितं मे भावं च,
यः पठति भावशुद्धस्तस्य भवेज्जगति संसिद्धिः ॥ ७ ॥

२. 'णिद्धद्धमोहतरुणो वित्थिण्णणाण-सायरुत्तिण्ण,
णिहयं-णिय-विग्घ-दग्गा बहुवाहविणिग्गया अयला।
दलिय-मयण-धायावा तिकालविसएहि तीहि णयणेहिं,
दिट्ठसंयलट्ठसारा सुरद्धतिउण मुणिव्वइणो।
तिरयणतिसूलधारिय मोहंधासुर-कबंध-विन्दहरा,
सिद्धसयलप्परूवा अरहन्ता दुण्णयकयन्ता। —धवला टीका-१ पृ० सं० ४५-४६

क्रमशः

त्रिषष्टि श्लाका पुरुष चरित्र (हेमचन्द्राचार्य)

अनुवाद—**राजकुमारी बेगानी**

गोह की पूँछ पकड़ कर जैसे नदी पार की जाती है उसी प्रकार उसकी पूँछ पकड़ कर कुंएँ से बाहर निकला। बाहर आते ही मैंने उसकी पूँछ छोड़ दी और दूसरे ही क्षण मूच्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा। चेतना लौटने पर घूमता हुआ एक अरण्य में पहुँचा। वहाँ एक महिष द्वारा आक्रान्त होकर एक टीले पर चढ़ गया। तब वह महिष अपने बड़े-बड़े सींगों द्वारा उस टीले को तोड़ने का प्रयास करने लगा। और उसी समय राक्षस की एक बाहु से अजगर ने आकर उस पर आक्रमण किया। वे जब एक दूसरे पर आक्रमण कर रहे थे उसी सुयोग का लाभ उठाकर मैं टीले से नीचे उतरा और दौड़ा और शीघ्र ही उस वन के अन्त में एक गाँव में जा पहुँचा। वहाँ मेरे मामा के मित्र रुद्रदण्ड ने मुझे देखकर पहिचान लिया और मेरी खूब सेवा सुश्रूषा की। इस भांति मुझे दूसरा जीवन मिला। स्वस्थ होने पर हम एक लक्ष स्वर्ण का पण क्रय कर सुवर्ण द्वीप जाने को निकले। राह में इस वेगवती नदी का अतिक्रम कर हम एक पर्वत के निकट आये, वहाँ से बाँस का वन पार कर हम टंकन प्रदेश में पहुँचे, वहाँ हमने दो बकरे खरीदे। तदुपरान्त बकरों की पीठ पर चढ़कर हमने जलपथ की यात्रा की। इस प्रकार एक स्थान पर पहुंचने पर रुद्रदण्ड मुझसे बोला—इस रास्ते के बाद पैदल चलने लायक रास्ता नहीं है इन दोनों बकरों की हम यहीं हत्या करेंगे और ऊपर के रोएँ का अंश भीतर और भीतर के माँस का अंश बाहर कर सिलाई कर देंगे। फिर हम उसमें प्रवेश करेंगे। भारण्ड पक्षी माँस के भ्रम में हमें सुवर्ण भूमि ले जाएँगे।

मैंने कहा—'यह कैसे सम्भव है ये लोग हमे इतनी दूर पीठ पर वहन किये लेकर आये हैं ये तो हमारे सहोदर तुल्य हैं।' यह सुनकर वह क्रुद्ध होकर बोल उठा—जबकि ये दोनों बकरे ही तुम्हारे नहीं हैं तब तुम मुझे किस प्रकार इनकी हत्या से विरत कर सकोगे' ऐसा कहकर उसने अपने बकरे को मार डाला। यह देखकर मेरा बकरा करुणामय दृष्टि से मेरी ओर देखने लगा।

मैंने उससे कहा—'मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकूँगा किन्तु जिन धर्म जो कि शुभ परिणामदायक हैं वह तुम्हारा शरणागत है। जिन धर्म ही आपद-विपद भाई बन्धु, माता, पिता और मालिक की भांति शरण स्थल हैं।'

मैंने उसे जिनधर्म सुनाया। उसने सुना और माथा हिलाकर उसे अंगीकार किया। मैंने तब उसे सर्वमंगलकारी नवकार मंत्र सुनाया। तत्पश्चात् रुद्रदण्ड ने उसकी हत्या कर दी। वो देवलोक मे गया। फिर हम दोनों हाथ में छुरी लेकर खोल के मध्य प्रविष्ट हुए और भारण्ड पक्षी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। वे आये और माँस के भ्रम में हमें उठाकर आकाश में उड़ चले। राह में वे सारा माँस अकेले ही प्राप्त करने के लिये परस्पर लड़ने लगे। तभी मैं उनसे छुट कर एक सरोवर में जा गिरा। तब मैंने छुरी से चमड़ा काटा और तैर कर किनारे आया। कुछ दूर जाने पर एक वन में एक वृहद् पर्वत देखा। कुतुहल वश उस पर्वत पर चढ़ा तो वहाँ एक कार्योत्सर्ग ध्यान में स्थित मुनि को देखा। उनका ध्यान शेष होने पर मैंने उन्हें वन्दना की। धर्म लाभ देकर वे बोल उठे—'चारुदत्त, मनुष्यों के लिये इस अगम्य स्थान पर तुम कैसे आये? देव, विद्याधरो और विहंगो के अतिरिक्त और कोई यहाँ आ ही नहीं सकता। मैं वही अमितगति हूं, जिसको तुमने मुक्त किया था। वहाँ से उड़कर मैंने अपने शत्रु को अष्टापद के निकट देखा। मुझे देखते ही वह मेरी पत्नी का परित्याग करके अष्टापद पर भाग गया। मेरी पत्नी को गिरते देख कर मैंने उसे पकड़ लिया और स्वगृह लौट गया। कुछ दिनों पश्चात् मेरे पिता मुझे सिंहासन पर बैठाकर दो चारण मुनि हिरण्य कुम्भ और स्वर्णकुम्भ से दीक्षित हो गये। क्रमशः मेरी पत्नी के गर्भ से दो पुत्रों ने जन्म लिया। जिनका हमने नाम रखा सिंहयश और वराहग्रीव वे दोनों मेरी ही तरह पराक्रमी और शक्तिशाली है। मेरी पत्नी विजय सेना के गर्भ से ही एक कन्या का जन्म हुआ जिसका नाम रखा गन्धर्वसेना वह समस्त कलाओं में निपुण और सुन्दर है। तदुपरान्त मैंने भी यथासमय अपने पुत्रों को राज्य और विद्यादान देकर अपने पिता और गुरु से दीक्षा ग्रहण कर ली। लवणसमुद्र में स्थित इस द्वीप का नाम कुम्भकण्रक है और इस पर्वत का नाम है कर्कोटक। मैं यहाँ तपस्या करता हूं। तुम यहाँ कैसे आये? इस प्रश्न के उत्तर में मैंने उन्हें अपने दुर्भाग्य की कहानी सुनाई। ठीक उसी समय अमितगति की तरह ही दो सुन्दर विद्याधर वहाँ आकाश पथ से आये और अमितगति को वन्दन किया, उन्हें देखते ही मैंने अनुमान लगा लिया कि दोनों अभितगति के पुत्र हैं। मुनि ने अपने दोनों पुत्रों का परिचय दिया और उन्हें मुझे प्रणाम करने को कहा वे भी तात-तात कहते हुए मुझे प्रणाम कर वहीं बैठ गये। ठीक उसी समय स्वर्ग से वहाँ एक विमान उतरा तथा उस विमान से एक वैभवशाली देव ने उतरकर प्रथम मुझे वन्दन किया तदुपरान्त मुनि अमितगति को तीन प्रदक्षिणा देकर वन्दना की। वन्दना के इस प्रकार को देखकर अमितगति के पुत्रों ने इसका कारण उस देव से पूछा। प्रत्युत्तर में देव ने कहा—चारुदत्त मेरा धर्माचार्य हैं, उसने यह कहकर अपना पूर्ण विवरण सुनाया।

काशी नगरी में वेद-वेदान्त पारंगत सुभद्रा और सुलसा नामक दो बहिनें रहती थी। वे परिव्राजिका थी और शास्त्रार्थ के लिए आये अनेक विद्वानों को पराजित कर चुकी थी। एक दिन याज्ञवल्क्य नामक परम विद्वान तपस्वी उनसे शास्त्रार्थ करने आया। जो पराजित होगा वो विजेता का दासत्व ग्रहण करेगा ऐसी शर्त रखकर सुलसा ने उससे शास्त्रार्थ किया किन्तु वह पराजित हो गई और दासी बनकर याज्ञवल्क्य के घर चली गयी। सुलसा के साहचर्य से याज्ञवल्क्य का काम उद्दीप्त हो उठा। वे दोनों ही काम के वशवर्ती हो गये। नगर से कुछ दूर रहकर वे प्रतिदिन यौवन सुख भोग करने लगे। क्रमशः त्रिदण्डी याज्ञवल्क्य के एक पुत्र हुआ। लोकनिन्दा के भय से वे दोनों उसे एक पीपल के वृक्ष के नीचे रख कर दूर देश चले गये। सुभद्रा को यह ज्ञात हुआ तो वह शिशु को उठा कर ले आयी। सुभद्रा जब उसको लेने गयी तो उसने देखा कि वह शिशु अपने मुख पर गिरे हुए पीपल फलों को चूस रहा था अतः उसका नाम पिप्पलाद रखा। उसने उसका लालन पालन कर उसे वेद वेदांगों में भी पारंगत बनाया। वो परम मेधावी और विद्वान बन कर वादियों का गर्व चूर करने लगा। कालक्रम से याज्ञवल्क्य और सुलसा उसके साथ वाद करने आये। परन्तु पिप्पलाद ने उन दोनों को पराजित कर दिया। पिप्पलाद को जब ज्ञात हुआ कि वे ही उसके माता पिता हैं और उन्होंने उसे त्याग दिया था तो वह क्रुद्ध हो उठा। तब उसने मातृमेघ और पितृमेघ यज्ञ का अनुष्ठान कर माता-पिता दोनों की ही हत्या कर दी। उस समय में मैं पिप्पलाद का शिष्य था। मेरा नाम था वाकबली। मैंने पशुमेधादि यज्ञों में बहुत से पशुओं की हत्या की थी अतः मरकर घोर नरक में गया। नरक से निकल कर पांच बार मैं पशुयोनियों में उत्पन्न हुआ और पांचों बार क्रूर ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ में मेरी आहुति दी गई। तदुपरान्त मैं टंकण प्रदेश में बकरे के रूप में जन्मा और इन महात्मा से जिन धर्म में दीक्षित होकर रुद्रदत्त द्वारा मार दिया गया। वहाँ से सौधर्म देव लोक में गया। अतः दया के सागर ये चारुदत्त मेरे धर्माचार्य हैं इसीलिये मैंने पहले उन्हें ही वन्दन किया। मैंने वन्दना में कोई विपर्यय नहीं किया।

यह सुनकर अमितगति के पुत्र बोल उठे जिस प्रकार इन्होंने आपकी सहायता की उसी प्रकार मेरे पिता की भी जीवन रक्षा इन्होंने की है, तब यह देव मुझसे बोला 'हे गुरुदेव पार्थिव रूप में मैं आपकी क्या सहायता कर सकता हूँ। मैंने कहा "यथा समय तुम्हें स्मरण करूँगा।" यह सुनकर वह देव चला गया।

अमित गति के पुत्र तब मुझे उनकी नगरी शिवमन्दिर ले गये : वहाँ मैं उनकी माता तथा आत्मीय स्वजनों द्वारा सम्मानित होकर खूब आनन्द पूर्वक रहने लगा। जब मैंने अपने देश जाने की इच्छा प्रकट की तब उन्होंने अपनी बहिन गन्धर्वसेना को

दिखाकर कहा—'मेरे पिता जब दीक्षित हुए तब उन्होंने हमें यह आदेश दिया था कि किसी नैमित्तिक ने उन्हें बताया था कि जो कुमार वसुदेव इसे कला से पराजित करेंगे उन्हीं से इसका विवाह होगा। अतः तुमलोग गन्धर्वसेना को सहृदयी मित्र मृत्युलोक निवासी चारुदत्त को सौंप देना ताकि मर्त्यवासी वसुदेव सहज ही इसके साथ विवाह कर सकेंगे। अतः आप इसे स्वकन्या के रूप में ग्रहण कर अपने यहाँ ले जाइये।

उनके प्रबल आग्रह से बद्ध होकर जैसे ही मैंने गन्धर्वसेना सहित जाने का सोचा वह देव अवतरित हुए। वह देव दोनों विद्याधर कुमार और अन्य विद्याधर अनुचरों सहित मुझे विमान में बैठाकर अल्प समय में ही मुझे मेरे नगर में पहुंचा दिया। वे लोग मुझे कोटि-कोटि स्वर्ण और मणिमुक्ता देकर अपने आवास को लौट गये।

दूसरे दिन सुबह में मैं अपने मामा सवार्थ अपनी पत्नी मित्रवती और गणिका वसन्तसेना जो कि एकवेणी धारण की हुई थी उनसे मिला। मैंने तुम्हें गन्धर्वसेना के वंश का परिचय दे दिया है अतः अब तुम उसे वणिक कन्या समझ कर उसकी अवहेलना मत करना।

चारुदत्त की कहानी सुनकर वसुदेव आनन्दित हो गये और गन्धर्वसेना के साथ सुखपूर्वक रहने लगे। तदुपरान्त चैत्र मास के समय जबकि वो गन्धर्वसेना के साथ रथ पर चढ़ कर उद्यान की ओर जा रहे थे तब उन्होंने मातंग वेश-भूषा से सज्जित मातंग परिवार से परिवृत एक मातंगी कन्या को देखा। गन्धर्वसेना ने जब उन्हें परस्पर प्रेमभाव से अवलोकन करते देखा तो क्रुद्ध होकर सारथी को रथ द्रुतगति से ले जाने का आदेश दिया। इस प्रकार वे उद्यान पहुंचे और वहाँ आमोद-प्रमोद कर पुनः चम्पा नगरी लौट आये।

दूसरे दिन सुबह उन्हीं मातंगों की एक वृद्धा बसुदेव से मिलने आयी और उन्हें आशीर्वाद देकर बोली—ऋषभनाथ ने जब अपना राज्य पुत्रों के बीच बाँटा था तब नमी और विनमी उस समय वहाँ नहीं थे। ऋषभनाथ के दीक्षित हो जाने के पश्चात् भी राज्य लाभ की आशा में वे उनकी सेवा करने लगे। इससे सन्तुष्ट होकर धरणेन्द्र ने उन्हें वैताट्य पर्वत की उभय श्रेणी का आधिपत्य दे दिया। कालक्रम से वे अपना राज्य पुत्रों को देकर भगवान से दीक्षित हो गये और मुक्ति-प्राप्त की मानो वे वहाँ मोक्ष में भगवान के दर्शन करेंगे। नमि का पुत्र मातंग दीक्षा लेकर स्वर्ग गया। उनके वंश में अभी प्रहसित नामक राजा राज्य कर रहे हैं। मैं उनकी पत्नी हिरण्यवती हूं। मेरे एक पुत्र है जिसका नाम है सिंहदृष्टा। सिंहदृष्टा की एक कन्या है जिसका नाम है नीलयशा जिसे कल तुमने देखा था। कुमार तुम उसके साथ विवाह करोगे कारण तुम्हें देखते ही वह तुम पर मुग्ध हो

गयी है। आज शुभ मुहूर्त्त है विलम्ब अब उसके लिए असहनीय है। वासुदेव ने कहा—मैं विवेचना कर इसका उत्तर दूँगा। आप एक बार और आयेंगी। कौन जाने तुम ही वहाँ जाओगे या मैं ही यहाँ आऊँगी—कहकर उसने वसुदेव से विदा ली।

वसुदेव ने उस वृद्धा की बात की उपेक्षा कर दी। तदुपरान्त ग्रीष्म ऋतु में एक दिन गन्धर्वसेना के साथ जल बिहार कर सोये हुए थे कि एक प्रेत आया और जागो जागो कहता हुआ वसुदेव को अपने दृढ़ हाथों से उठाकर चल दिया। वासुदेव ने उस पर मुष्टि प्रहार किया फिर भी उसने नहीं छोड़ा और उन्हें एक जलती हुई चिता के सम्मुख ले गया। वहाँ वसुदेव ने भयंकर रूपा हिरण्यवती को देखा। उसने उस प्रेत का यह कहकर स्वागत किया कि "चन्दबदन तुमने बहुत अच्छा किया," वह प्रेत वसुदेव को उसे सौंप कर तुरन्त अदृश्य हो गया। तब वह बृद्धा हंसती हुई बोली—बसुदेव कुमार तुमने विवेचना कर ली या अब मेरे आग्रह पर विवेचना करोगे। ठीक उसी समय अप्सराओं से घिरी स्त्रियों की तरह की सहचारियों से वेष्ठित नीलयशा वहाँ पहुँची 'यही तुम्हारे पति हैं' कहकर वृद्धा ने नीलयशा से कहा—तुम इसे ले जाओ।' तब नीलयशा ने वसुदेव का हाथ पकड़ा और आकाशपथ से ले चली। अगले दिन हिरण्यवती वसुदेव से बोली—कुमार मेघप्रभ वन से घिरे इस वृहद पर्वत का नाम ह्रीमान है। यहाँ चारण मुनि निवास करते हैं। ज्वलन नाम का एक खेचर पुत्र अंगारक विद्या भ्रष्ट होकर पुनः विद्या सिद्धि के लिये यहां प्रयास कर रहा है बहुत दिनों बाद वह विद्या सिद्ध करेगा किन्तु यदि तुम उसके निकट जाओगे तो उसकी विद्या तुरन्त सिद्ध हो जाएगी। तुम उसके पास जाकर उसकी सहायता करो। वसुदेव प्रत्युत्तर में बोले—उसकी बात मुझे मत कहो, मैंने उसे कुछ दिन पहले ही देखा है। यह सुनकर हिरण्यवती वसुदेव को वैताढ्य पर्वत पर शिवमन्दिर नगर में ले गयी वहाँ सिंहदृष्ट उन्हें आदर पूर्वक अपने प्रासाद में ले गये और नीलयशा के साथ उनका विवाह कर दिया।

ठीक उसी समय बसुदेव ने तुमुल कोलाहल सुना—द्वारपाल से पूछने पर उसने जवाब दिया—यहाँ शंकटमुख नामक एक नगर है वहाँ के राजा का नाम नीलवंत और उनकी पत्नी का नाम नीलवती है। उनके नीलांजना नामक एक कन्या है और नील नामक एक पुत्र है उन्होंने बहुत दिनों पूर्व यह स्थिर किया था कि यदि इनके पुत्र और कन्या होती है तो वे उनका परस्पर विवाह कर देंगे। नीलांजना के एक कन्या हुई जिसका नाम है नीलयशा, जिसके साथ आपका विवाह हुआ है उधर नील के भी नीलकण्ठ नामक पुत्र हुआ है। पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार नील ने नीलकण्ठ के लिये नीलयशा की याचना की किन्तु महाराज के पूछने पर

मुनि वृहस्पति ने कहा कि नीलयशा का विवाह अर्द्धभारत के अधिपति विष्णु के पिता यदुकुल उत्पन्न कामदेव से रूपवान वसुदेव के साथ होगा। इसलिए महाराज विद्याबल से आपको यहाँ ले आये और आपके साथ उसका विवाह किया है। नील इसीलिए यहाँ आया है और ये कोलाहल ध्वनि उसी कारण से है।

यह सुनकर वसुदेव आनन्दित हुए। एक दिन नीलयशा के साथ क्रीड़ा करते हुए उन्होंने खेचरों को शरद ऋतु में विद्या साधना और औषधि संग्रह के लिये ह्रीमत पर्वत की ओर जाते देखा। वसुदेव ने नीलयशा से कहा—"मैं भी कुछ विद्याएँ अर्जित करना चाहता हूं क्या तुम मुझे अपना शिष्य बनाओगी। नीलयशा के सम्मत होने पर दोनों ह्रीमत पर्वत पर गये। वहां का सौन्दर्य देखकर वसुदेव काम के वशीभूत हो गये। अतः नीलयशा ने वहाँ एक कदली घर का निर्माण किया और वसुदेव के साथ काम-क्रीड़ा करने लगी। उसी समय एक मयूर दिखाई पड़ा उसे देख विस्मित बनी नीलयशा ने वसुदेव से कहा—'देखो-देखो उस मयूर की पूँछ कितनी सुन्दर है यह कहते कहते वह मृगाक्षी उसे पकड़ने के लिये दौड़ी, जब वह मयूर के निकट पहुंची तो वह उसे पीठ पर बैठाकर उसका हरण कर गरुड़ की भाँति आकाश में उड़ चला। (क्रमशः)

जैन जर्नल ११ जनवरी १९९४

इस अंक में ! Sacred literature of the Jains. (Albrecht Friedrich Weber). The Jain theory of Karma and the self (Yuba charya Dr. Shiv Muni). Manorama Kaha (Rupendra Kr. Pagariya— Satya Ranjan Banerjee) A study of Tattvartha sutra with Bhasya (Suzuko ohira—Satya Ranjan Banerjee) Role of space time in Jain's Syadvada and Quantum theory (Filita Bharucha, Satya Ranjan Banerjee) Purana Perenn (Wendy Doniger (Ed)—Satya Ranjan Banejee).

आ. श्री कैलाससागर सूरि ज्ञानमंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा
कि. गांधीनगर, पिन-382009

WB/NC-330
Vol. XVII No. 10 **TITTHAYARA** **February 1994**
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77